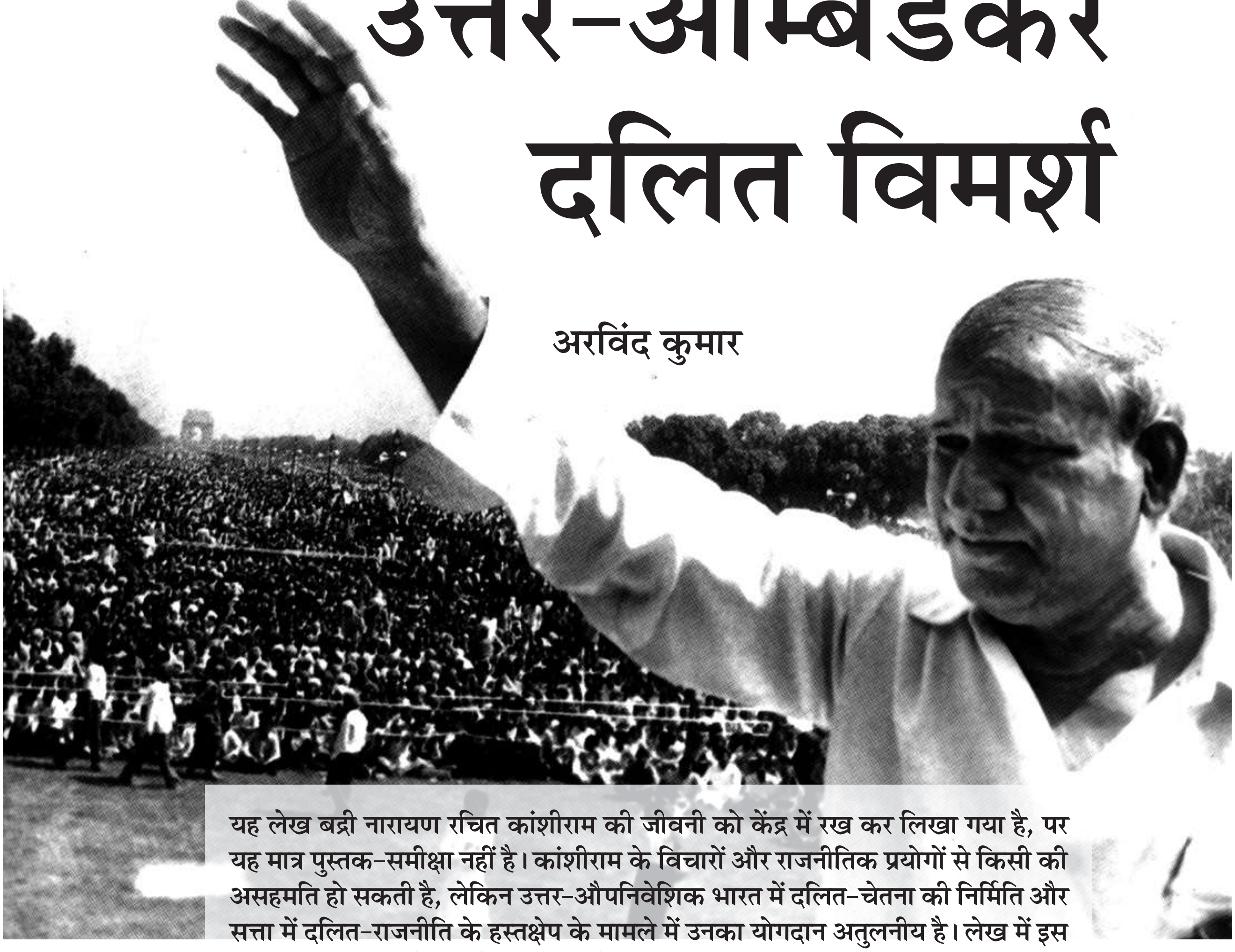
प्रतिमान

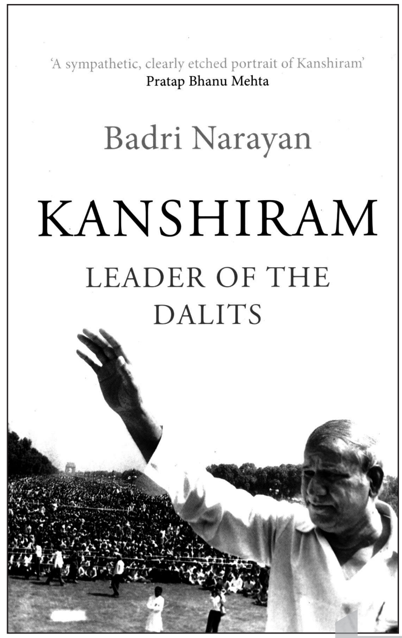
कांशीराम और उत्तर-आम्बेडकर दलित विमर्श

अरविंद कुमार



यह लेख बद्री नारायण रचित कांशीराम की जीवनी को केंद्र में रख कर लिखा गया है, पर यह मात्र पुस्तक-समीक्षा नहीं है। कांशीराम के विचारों और राजनीतिक प्रयोगों से किसी की असहमति हो सकती है, लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक भारत में दलित-चेतना की निर्मिति और सत्ता में दलित-राजनीति के हस्तक्षेप के मामले में उनका योगदान अतुलनीय है। लेख में इस जीवनी पर टिप्पणी के बहाने कांशीराम के असाधारण जीवन का एक संक्षिप्त विवरण कुछ इस तरह से पेश करने की कोशिश की गयी है कि उनके और बाबासाहेब आम्बेडकर के विचारों के बीच समानता और अंतर रेखांकित हो सके। इसके बाद आलोचनात्मक निगाह के साथ कांशीराम की राजनीति पर चर्चा करते हुए उनके और बसपा के साथ ही समसामयिक दलित राजनीति पर होने वाले बौद्धिक विमर्श की संक्षिप्त समीक्षा की गयी है। इस बौद्धिक प्रयास से कांशीराम के संदर्भ में उत्तर-आम्बेडकर आलोचनात्मक दलित विमर्श की एक रूपरेखा उभरने की सम्भावना है।

बद्री नारायण द्वारा लिखी गयी कांशीराम (1934–2006) की जीवनी या जीवन-चरित्र एक ख़ास रचना के रूप में हमारे सामने है। पुस्तक के बाहरी आवरण पर प्रताप भानु मेहता ने इसके बारे में कहा है : 'कांशीराम का एक सहानुभूतिपूर्ण, साफ़-साफ़ उकेरा हुआ रूप-चित्र'। जीवनी की तारीफ़ में वे आगे कहते हैं कि 'इस पुस्तक की एक दुर्लभ शैली है : बढ़िया शोध के साथ यह एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक हस्ती का एक विश्लेषणात्मक राजनीतिक रूप-चित्र तो है ही ... पर इससे भी कहीं ज़्यादा है। यह पुस्तक कई विषय-वस्तुओं के बारे में नये क्षितिज खोलती है— जैसे दलित-राजनीति, राजनीतिक संगठन और सामाजिक गोलबंदी के तरीक़े, उत्तर प्रदेश की राजनीति में नेतृत्व इत्यादि। निश्चित रूप से एक अनमोल योगदान।'[1] जी हाँ, एक ग़ैर-दलित लेखक द्वारा रचित एक महान दलित हस्ती की जीवनी आज के अकादमिक विमर्श और बहस के दौर में दो ख़ास वजहों से दिलचस्प बन गयी है। पहली वजह यह है कि लम्बे समय से दलित-विमर्श का ताना-बाना दलितों द्वारा रचित उनकी आत्मकथाओं के इर्द-गिर्द ही रहा है। दूसरी वजह है स्वानुभूति बनाम सहानुभूति की बहस जिसे गोपाल गुरु और सुंदर सरुक्काई ने समाज-विज्ञान की दुनिया में एक नयी ऊँचाई प्रदान की है। इस बहस से यह विमर्श गहरा हुआ है कि क्या किसी दलित के पास ही यह अधिकार है कि वह दलित विषयों पर शोध कर सही और निष्पक्ष राय दे सके या फिर किसी ग़ैर-दलित के पास भी यह संवेदना हो सकती है कि वह दलित विषय-वस्तु में विवेचनात्मक हस्तक्षेप कर सके।[2]



कांशीराम
लीडर ऑफ़ द दलित्ज़
बद्री नारायण
पेंगुइन / वाइकिंग, नयी दिल्ली, 2014
मूल्य 495 रुपये, पृष्ठ 265

I

डॉ. आम्बेडकर के बाद पूरे देश में कांशीराम दलितों के सबसे बड़े नेता, संयोजक और संगठनकर्ता माने जाते हैं। उन पर एकाधिक बार जीवनीपरक लेखन हो चुका है। पहला है *संत चरित वर्णन* जो कांशीराम के सचिव और बहुजन समाज पार्टी (बसपा) के कोषाध्यक्ष रहे अम्बेथ राजन ने लिखी है जिसमें कांशीराम को एक ऐसे संत के रूप में देखा गया है जो वैश्विक माया से परे थे (पृ. XI-XII)। इसके अलावा दो अन्य रूप-चित्र ग़ैर-दलित लेखकों द्वारा ही रचे गये हैं। पहला है अभय कुमार दुबे द्वारा लिखी गयी *कांशीराम : एक आलोचनात्मक अध्ययन* जो राजकमल द्वारा प्रकाशित है। दूसरा है बद्री नारायण की *कांशीराम : लीडर ऑफ़ दलित्ज़* जिसे पेंगुइन-वाइकिंग ने छापा है जिस पर हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं। इसके अलावा कांशीराम के बारे में ज़्यादातर स्मृति-लेख हैं, साक्षात्कारों

[1] पुस्तक के पिछले कवर फ्लैप से.
[2] गोपाल गुरु एवं सुंदर सरुक्काई (2012).

समीक्षा-लेख



अस्सी के दशक की शुरुआत में एक कार्यक्रम में मायावती को भाषण देते हुए देख कर ही कांशीराम ने उनके भीतर छिपी नेतृत्व की सम्भावनाओं को पहचाना था.

कांशीराम ने पार्टी की बागडोर मायावती को दी जिन्होंने सधे हुए शिष्य के रूप में बसपा की कमान सँभाली। वे महज़ 38 वर्ष की उम्र में 3 जून, 1995 को भारत के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश की पहली दलित महिला मुख्यमंत्री बनीं। अपनी ही पार्टी में अपने बढ़ते अलगाव को देख कर कांशीराम ने मायावती को 2001 में अपना उत्तराधिकारी बना दिया। बाद में मायावती द्वारा की गयी सोशल इंजीनियरिंग के तहत बहुजन की जगह 'सर्वजन' की अपील से बसपा 2007 में अपने दम पर सत्ता में आयी।

के संग्रह हैं या फिर ख़ुद कांशीराम द्वारा लिखी गयी एकमात्र पुस्तक द *चमचा एज : एन एरा ऑफ़ द स्टूजेज़* है। इनमें से कुछ भी जीवनी जैसा नहीं है। बद्री नारायण के लिए भी जीवनी लिखना आसान नहीं रहा है। लिखने के क्रम में उन्होंने महसूस किया कि इतिहास के ढेरों महान और महत्त्वपूर्ण पुरुषों के अपने वृतांत या फिर आत्मकथाएँ हैं। आज के युग में ज़्यादातर दलित बुद्धिजीवियों की भी आत्मकथाएँ हैं। लेकिन कांशीराम के जीवन से संबंधित बहुत कम चीज़ें ही उपलब्ध हैं। राजकीय पदों पर आसीन न होने की वजह से अभिलेखागारों में भी उनके बारे में सामग्री न के बराबर उपलब्ध है। जीवनी लिखने के क्रम में लेखक की निष्पक्षता का मामला और भी संवेदनशील और महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस कसौटी पर बद्री नारायण खरे उतरे हैं।

जीवनी के शुरुआती पन्नों में दर्ज है :

> वह 1980 के दशक और शुरुआती 1990 का दौर था जब कांशीराम का उदय राजनीतिक पटल पर हुआ। तब मैंने अपना अकादमिक करियर शुरू ही किया था। उत्तर प्रदेश में लोकतांत्रिक राजनीति का बदलता चेहरा जो पहले मण्डल आयोग रिपोर्ट के लागू होने के बाद के उपद्रव से शुरू हुआ फिर उदारवादी नीति के अपनाने पर और फिर बाबरी मसजिद के ढाहे जाने के बाद, मैंने

> बहुजन समाज पार्टी (बसपा) के उद्‌भव और विकास को बहुत क़रीब से देखा। अपने शोध के सिलसिले में मैंने ढेर सारे दलितबहुल गाँवों का दौरा किया; दलित राजनीति को देखने और दलित मानसिकता को समझने के लिए। गाँव के गाँव, मैंने पाया कि अब दलित बिलकुल ही दब्बू और अधीन नहीं हैं। बल्कि इनका रूपांतरण एक ऐसे समूह के रूप में हुआ है जिनमें विशिष्ट आत्मविश्वास, अपनी पहचान के प्रति जागरूकता और आत्मविश्वास आया है। जिन दलित लोगों से मेरी बातचीत हुई उन्होंने बताया कि वे कांशीराम ही थे जिन्होंने उनके अंदर यह भाव जगाया। वे सब उन्हें भीम राव आम्बेडकर के बाद दलितों का सबसे बड़ा मसीहा मानते हैं। उन्होंने ही इन्हें सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक रूप से सबल बनाया और साथ ही ऊँची जाति और पुलिस द्वारा किये जाने वाले भेदभाव और अपमान से लड़ने के क़ाबिल बनाया। उन लोगों के ऐसे विचारों और टिप्पणियों से कांशीराम के प्रति मेरा आदर और भी बढ़ गया। (पृ. XI-XII)

कांशीराम का जन्म 15 मार्च, 1934 को पंजाब के रोपड़ जिले में पिरथीपुरबंग, खवासपुर गाँव में हुआ था। माता थीं बिशन कौर और पिता हरी सिंह। उनका परिवार पहले चमार जाति से संबंधित था जो बाद में रामदसिया सिक्ख पंथ में शामिल हो गया। पिता हरी सिंह आर्य समाज से प्रभावित थे जो समाज उन दिनों पंजाब में सुधारवादी विचारों का प्रसार कर रहा था। कांशीराम की स्कूली शिक्षा गाँव में हुई और बाद में गवर्नमेंट कॉलेज, रोपड़ से 1956 में बीएससी करके वे उच्च शिक्षा के लिए स्टाफ़ कॉलेज, देहरादून चले गये। वहाँ सिविल सेवा की तैयारी करते हुए उन्होंने जियोलॅजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया में नौकरी की। उसी वर्ष छह दिसम्बर को जब आम्बेडकर के देहावसान की ख़बर आयी तो उनके एक साथी श्री ज्ञानी तीन दिनों तक गहरे शोक में डूबे रहे। कांशीराम ने आम्बेडकर का नाम सुना तो था, लेकिन इस घटना के बाद श्री ज्ञानी से उनके बारे में विशेष जानकारी हासिल की। 1957 में सर्वे ऑफ़ इण्डिया की परीक्षा उत्तीर्ण की लेकिन एक ख़ास अवधि तक नौकरी में बने रहने हेतु बॉण्ड साइन करने से यह कह कर इंकार कर दिया कि वे बंधुआ मज़दूर नहीं बन सकते। 1958 में उन्हें हाई एनर्जी मैटेरियल रिसर्च लेबोरेटरी[3] पुणे में रिसर्च असिस्टेंट की नौकरी मिली (पृ. 11-16)। फुले, साहूजी महाराज और आम्बेडकर की धरती पर कांशीराम को नौकरी मिलना शायद एक अच्छा संयोग था।

पहले तो कांशीराम अपनी नौकरी में रम गये। वे वैज्ञनिक बनना चाहते थे, लेकिन ठीक पाँच साल बाद इस संस्था में ही घटी एक घटना ने उनकी ज़िंदगी को बदल कर रख दिया। अन्य सरकारी संस्थाओं की ही तरह इस संस्था में भी बुद्ध जयंती और आम्बेडकर जयंती पर छुट्टी होती थी लेकिन बाद में ऊँची जाति के कुछ अधिकारियों ने इन छुट्टियों को बदल कर तिलक और गोखले के जन्म दिनों पर कर दिया। दीना भान नाम के एक चतुर्थ वर्ग के अधिकारी ने, जो राजस्थान के जैसलमेर ज़िले से और जाति से भंगी था, इसका विरोध किया। उसने दोनों छुट्टियाँ रद्द करने के ख़िलाफ़ लिखित अर्ज़ी दी। इसके जवाब में वहाँ के ऊँचे अधिकारियों ने कर्मचारियों को नौकरी और छुट्टी दोनों में से एक चुनने का विकल्प दिया। ज़्यादातर लोगों ने नौकरी बचाने के लिए समझौता कर लिया। लेकिन दीना भान ने आत्मसम्मान को ध्यान में रखकर निर्णय लिया कि उसे दोनों ही चाहिए क्योंकि दोनों ही उसका संवैधानिक अधिकार है। उसने आम्बेडकर जयंती के दिन दफ़्तर आने से साफ़ इंकार कर दिया। इसके बदले में उसे नौकरी से निकाल दिया गया। दीना भान ने इसके बाद क़ानून का रास्ता अख़्तियार किया। इस पूरी घटना को क़रीब से देखने वाले कांशीराम काफ़ी उद्वेलित हुए।

कांशीराम भी इस आंदोलन के साथ पूरी प्रतिबद्धता से जुड़ गये : चतुर्थ वर्ग के अधिकारियों को लामबंद करने से लेकर तत्कालीन रक्षा मंत्री यशवंतराव चव्हाण से मिलने तक। एक उच्चस्तरीय पूछताछ

---

[3] 1960 से इस संस्था का नाम एक्सप्लोसिव रिसर्च ऐंड डिवेलपमेंट लेबोरेटरी हो गया.

समिति का गठन हुआ। दोषियों की खिंचाई हुई और दीना भान को वापस नौकरी पर रख लिया गया। पर इस घटना ने कांशीराम को अंदर से झकझोर दिया। वे अक्सर सोचते कि इस देश में उनकी पहचान क्या है ? उन्हें न्याय कैसे मिलेगा— जब कि उनकी जाति का न कोई अफ़सर है, न कोई न्यायाधीश, न कोई मंत्री ? तभी से उन्होंने अपनी दलित पहचान जताना शुरू किया। (पृ. 19-21) दलितों के बीच विभिन्न जातियों के बिखराव से वे भली-भाँति परिचित थे। उनके सामने सबसे पहली चुनौती थी बिखरे हुए बहुजन समाज को संगठित और लामबंद करने की। यह काम सरल नहीं था। उन्होंने पुणे में शिक्षित और नौकरी पेशा लोगों को संगठित करने के लिए एक संगठन की परिकल्पना की, जो बाद में बामसेफ़ के नाम से जाना गया। उन्होंने केवल नौकरी छोड़ने का फ़ैसला ही नहीं लिया, बल्कि अपने सगे संबंधियों से भी नाता-रिश्ता ख़त्म करने का निर्णय लिया। उन्होंने अपने परिवार के नाम 24 पृष्ठों का ख़त लिखा। हालाँकि यह ऐतिहासिक ख़त सहेजा न जा सका लेकिन उसमें मुख्य बात यह थी कि उनका जीवन अब ग़रीब, दलित, पिछड़े, अल्पसंख्यकों आदि को समर्पित है और वे तब तक शांत नहीं बैठेंगे जब तक बाबासाहेब आम्बेडकर का सपना पूरा न हो जाए।

बद्री नारायण ने कांशीराम के सार्वजनिक जीवन को चार मुख्य चरणों में बाँटा है। पहला चरण है 1958-64 जब उन्होंने पुणे में नौकरी की। दूसरा चरण शुरू हुआ 1964 में जब उन्होंने नौकरी छोड़ने का फ़ैसला किया। तब तक वे रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इण्डिया के सदस्य हो चुके थे और 1971 में उन्होंने पुणे में ही एसएमसीए (एससी/एसटी/ओबीसी/माइनॉरिटी कम्युनिटी एम्प्लाइज़ एसोसिएशन) का गठन किया जो बाद में छह दिसम्बर, 1978 को बामसेफ़ (बैकवर्ड ऐंड माइनॉरिटी कम्युनिटीज़ एम्प्लाइज़ फेडरेशन) बना। यह था तीसरा चरण। और उनके जीवन का चौथा चरण शुरू हुआ 1981 में जब उन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर दलित शोषित समाज संघर्ष समिति (डीएस-फ़ोर) का निर्माण किया। डीएस-फ़ोर ने ही आगे चलकर 14 अप्रैल (आम्बेडकर-जयंती), 1984 को बसपा (बहुजन समाज पार्टी) का रूप लिया। बदलते वक़्त में बसपा एक राष्ट्रीय राजनीतिक पार्टी के रूप में उभरी। उस दौर में भारत में पारम्परिक तथाकथित राष्ट्रीय पार्टियों का प्रभाव कम हो रहा था। गठबंधन की राजनीति परवान चढ़ रही थी। उत्तर प्रदेश में कांशीराम ने पार्टी की बागडोर मायावती को दी जिन्होंने सधे हुए शिष्य के रूप में बसपा की कमान सँभाली। वे महज़ 38 वर्ष की उम्र में 3 जून, 1995 को भारत के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश की पहली दलित महिला मुख्यमंत्री बनीं। अपनी ही पार्टी में अपने बढ़ते अलगाव को देख कर कांशीराम ने मायावती को 2001 में अपना उत्तराधिकारी बना दिया। (पृ. 163) बाद में मायावती द्वारा की गयी सोशल इंजीनियरिंग के तहत बहुजन की जगह 'सर्वजन' के अपील से बसपा 2007 में अपने दम पर सत्ता में आयी। कांशीराम यह देखने के लिए जीवित नहीं थे। लम्बी बीमारी के बाद उनका देहांत 9 अक्टूबर, 2006 को दिल्ली में हुआ। कांशीराम के आख़िरी दिनों की कहानी सुखद नहीं थी। यहाँ तक कि उनके सगे भाई दलबरा सिंह को 'साहब श्री कांशीरामजी बचाओ संघर्ष कमिटी' बना कर मायावती की क़ैद से रिहाई की अपील करने के लिए राष्ट्रपति को ख़त लिखना पड़ा। इस प्रकरण का भी बद्री नारायण ने एक अध्याय में संवेदनशील तरीक़े से विवरण दिया है।

कांशीराम की सोशल इंजीनियरिंग

कांशीराम को संविधान और उससे निकलने वाले प्रजातांत्रिक मूल्यों पर पूरा भरोसा था। वे न केवल दलितों बल्कि आदिवासियों, पिछड़े वर्ग और अल्पसंख्यकों को भी बहुजन-समाज के दायरे में लाए। दलितों और शोषितों के अंदर जागरूकता फ़ैलाने और उन्हें सबल बनाने का कांशीराम का प्रयास वैसा ही था जैसा कि डॉ. आम्बेडकर का। इसके लिए उनकी नज़र में राज्य-सत्ता में भागीदारी अहम थी। इसलिए राज्य का तख़्त पलटने की राजनीति में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं थी। जिस तरह भारतीय

लोकतंत्र का संवैधानिक ढाँचा बनाने का श्रेय आम्बेडकर को जाता है, उसी तरह कांशीराम के संगठनात्मक प्रयासों और राजनीतिक युक्तियों की वजह से समाज के हाशिये पर खड़े एक बड़े समूह को राजनीतिक वैधता मिली। कांशीराम ने जातियों को उसके अर्थशास्त्रीय प्रभाव से ज़्यादा समाजशास्त्रीय प्रभाव के आईने में देखा। वे आश्वस्त थे कि देश के राजनीतिक ढाँचे में अर्थपूर्ण परिवर्तन से ही दलित मौजूदा सत्ता में सहभागिता करके ऊँची जातियों की प्रभुता समाप्त कर पाएँगे। इसके लिए उन्होंने अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग के अलावा तथाकथित आपराधिक जनजाति, बंजारा जनजाति, अल्पसंख्यकों के बीच पसमांदा[4] एवं अन्य हाशियाग्रस्त सामाजिक समूहों को अपने आंदोलन से जोड़ने का प्रयास किया। कांशीराम का विचार था कि साम्प्रदायिकता का उन्माद भी एक सोची-समझी साज़िश है जिसका दंश भी इस देश के बहुजन समुदाय को ही सबसे ज़्यादा झेलना पड़ता है। 1979 में जब वे देश भर में घूम कर लोगों को संगठित कर रहे थे, उन्होंने पाया उस साल जो तीन दंगे हुए थे उनमें अलीगढ़ में मुसलमानों को जाटवों से लड़ाया गया था, नाडिया में पिछड़ी जाति के लोगों ने मुसलमानों पर हमला किया था और जमशेदपुर में आदिवासियों को मुसलमानों के ख़िलाफ़ भड़काया गया था।

आम्बेडकर ने बहिष्कृत समाज के तमाम लोगों के बारे में अपने भाषणों और लेखनी में ज़िक्र ज़रूर किया लेकिन उनकी राजनीतिक लामबंदी महाराष्ट्र में और ख़ासकर महार जाति तक ही सीमित रही। आम्बेडकर की ही तरह कांशीराम भी गाँधी द्वारा प्रतिपादित शब्द 'हरिजन' के ख़िलाफ़ थे क्योंकि इस शब्द में 'कृपा' का भाव निहित है और इस के जवाब में उन्होंने महात्मा फुले द्वारा ईज़ाद किये हुए 'बहुजन' शब्द का इस्तेमाल किया। फुले द्वारा बहुजन का प्रयोग दलितों और पिछड़ों के लिए इस देश के 'मूलनिवासी' और 'असली-बाशिंदे' के रूप में था। परंतु कांशीराम का 'बहुजन' महात्मा बुद्ध और महात्मा फुले के मात्र 'बहुसंख्यक' होने के विचार से भिन्न था। उन्होंने इसका प्रयोग उन्होंने राजनीतिक सत्ता पर दावेदारी के लिए एक विचारधारा के रूप में किया।

कांशीराम ने राजनीति और विचारधारा का सरलीकरण करने का काम भी खूबसूरती से किया। उनका एक नारा राजसत्ता पर दावेदारी और संविधानगत आरक्षण को आपस में जोड़ देता है : 'वोट से लेंगे सीएम पीएम, आरक्षण से एसपी डीएम।' बहुजन जनता को उसके मताधिकार की ताक़त का एहसास दिलाने के लिए उन्होंने नारा दिया 'वोट हमारा— राज तुम्हारा, नहीं चलेगा, नहीं चलेगा।' मण्डल आयोग की सिफ़ारिशों ने जब यह तय किया कि भारत में अन्य पिछड़े वर्ग में आने वाले जातियों की संख्या पूरी आबादी का 52% है और उन्हें नौकरियों में कम से कम 27 फ़ीसदी आरक्षण मिलना चाहिए तो कांशीराम ने नारा दिया : 'जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी हिस्सेदारी।' यह नारा उन दिनों बहुत लोकप्रिय हुआ था।

आम्बेडकर के साथ एकता और मतभेद

कांशीराम को डी.के. खापर्डे[5] नामक उनके महाराष्ट्रियन दोस्त ने आम्बेडकर रचित पुस्तक *एनिहिलेशन ऑफ़ कास्ट* पढ़ने के लिए दी। इस पुस्तक का कांशीराम पर गहरा प्रभाव पड़ा। बाद में उन्होंने महात्मा फुले की *गुलामगीरी* और अन्य पुस्तकें पढ़ीं जिसमें शाहूजी महाराज की जीवनी भी शामिल थी। इन

[4] 'पसमांदा' फ़ारसी का शब्द है जिसका शाब्दिक मतलब है जो 'जो पीछे छूट गये हैं'. मुसलमानों का बड़ा तबक़ा सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े होने की वजह से पसमांदा कहलाता है और मण्डल आयोग लागू होने के बाद से इनमें से कई जातियों/ बिरादरियों को आरक्षण का लाभ मिला है.

[5] बी.आर. आम्बेडकर महार जाति में पैदा हुए थे और इस जाति के ज़्यादातर लोग उनके साथ ही 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर में बौद्ध धर्म में शामिल हो गये थे, और उसके बाद से ये महाराष्ट्र में नवबौद्ध कहलाने लगे.



कांशीराम अब महाराष्ट्र से निकल देश भर में जाग्रति और संगठन में लग गये। डीएस-फ़ोर के कार्यकर्ता दस विभिन्न दस्तों में बँटे थे; उसमें मुख्य तीन थे जाग्रति, महिला और छात्र दस्ता। ये दस्ते साइकिल में नीला झण्डा लगा कर, उत्तर भारत के गाँव और क़स्बों में जाकर दलितों और पिछड़ों को उनकी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अवस्था से अवगत कराते थे।

सबको पढ़ कर उनको बोध हुआ कि हज़ारों साल से चल रही इस ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने मुट्ठी भर लोगों को ही लाभान्वित किया है और बहुसंख्यक हिस्से को प्रताड़ित। लेकिन, कांशीराम की आँखों के सामने नज़ारा यह था कि आम्बेडकरोत्तरी समय में आम्बेडकर की लेखनी और उनका विचार बुद्धिजीवियों के ख़ास ख़ेमों में सिमट कर रह गया था। महाराष्ट्र में इसका असर देश के अन्य प्रांतों से ज़्यादा ज़रूर था, लेकिन वहाँ भी महार[6] और अन्य दलित जातियों के बीच के प्रतिस्पर्धा आम्बेडकर के विचारों को व्यापक बनाने के रास्ते में रोड़े का काम कर रही थी। कांशीराम को महाराष्ट्र और ख़ास कर पूना (जिसे महाराष्ट्र की सांस्कृतिक राजधानी भी कहा जाता है) में रहने का काफ़ी फ़ायदा हुआ। वहाँ उन्हें पढ़ा-लिखा और आत्मसम्मान वाला दलित और पिछड़ा वर्ग मिला जिसे उन्होंने बामसेफ़ से जोड़ा। बामसेफ़ का पहला सम्मेलन दिसम्बर, 1979 में नागपुर में हुआ जिसमें 10,000 कार्यकर्ताओं ने भाग लिया। ये कार्यकर्ता विभिन्न दस्तों में बँटे हुए थे— जैसे दत्तक ग्रहण, सहकारिता, भाईचारा दस्ता इत्यादि। संगठन का उत्साह बढ़ा और अगला सम्मेलन दिल्ली के आम्बेडकर नगर में हुआ। 1981 का सम्मेलन चण्डीगढ़ के परेड ग्राउण्ड में हुआ जिसमें देश के तीन सौ ज़िलों से प्रतिनिधियों ने भाग लिया। बामसेफ़ का बढ़ाव तेज़ी से हो रहा था, लेकिन जल्दी ही यह महसूस किया गया कि बामसेफ़ के ज़्यादातर कार्यकर्ता चूँकि सरकारी नौकरियों में है इसलिए चुनाव नहीं लड़ सकते।

इस प्रकार ज़रूरत पड़ी एक राजनीतिक घटक की जिसे दलित शोषित समाज संघर्ष समिति यानी डीएस-फ़ोर ने पूरा किया। कांशीराम अब महाराष्ट्र से निकल देश भर में जाग्रति और संगठन में लग गये। डीएस-फ़ोर के कार्यकर्ता दस विभिन्न दस्तों में बँटे थे; उसमें मुख्य तीन थे जाग्रति, महिला और छात्र दस्ता। ये दस्ते साइकिल में नीला झण्डा लगा कर, उत्तर भारत के गाँव और क़स्बों

[6] दीना भान प्रकरण के दिनों से ही डी.के. खापर्डे पुणे में कांशीराम के सबसे क़रीबी सहयोगी थे. इन दोनों ने मिल कर ही बामसेफ़ की स्थापना की थी. जब कांशीराम बामसेफ़ छोड़ कर पहले डीएस-फ़ोर और बाद में बसपा बना रहे थे, खापर्डे बामसेफ़ के साथ आख़िर तक स्तम्भ की तरह जुड़े रहे. शुरुआती दिनों से ही वे अपने साथियों एवं सहयोगियों से आग्रह करते कि उनके सामने सबसे बड़ी चुनौती 'बौद्धिक-विस्तार' की है क्योंकि यदि ऐसा न किया जा सका तो ब्राह्मणवाद के ख़िलाफ़ हर लड़ाई में हार निश्चित है. वैचारिक दृष्टि से वे बाबासाहेब के रास्ते के ज़्यादा क़रीब थे और इसीलिए जब कांशीराम बामसेफ़ से निकल कर डीएस-फ़ोर और बाद में बसपा बना रहे थे तब भी वे बामसेफ़ के असली लक्ष्य से जुड़े रहे. देखें मीता राजीवलोचन एवं एम. राजीवलोचन (2014). 'समाज को वापस देना' ही बामसेफ़ का मुख्य मक़सद था ताकि दलित नौकरशाह और दलित जनता के बीच एक जैविक संबंध बना रहे. ये संगठन लगातार दलित और पीड़ित जनता के लिए बौद्धिक और आर्थिक मदद जुटाता रहा. ये संगठन पूरी तरह अनौपचारिक, अपंजीकृत, ग़ैर-धार्मिक, ग़ैर-राजनीतिक तथा ग़ैर-आंदोलनकारी बना रहा. देखें, अभय कुमार दुबे (2001).

में जाकर दलितों और पिछड़ों को उनकी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अवस्था से अवगत कराते थे। ये लोकगीत, पोस्टर और नुक्कड़ के मदद से महात्मा फुले, शाहूजी महाराज, बाबासाहेब आम्बेडकर, रामास्वामी पेरियार आदि के विचार फैलाते थे। बाद में बसपा बन जाने के बाद भी यह सांस्कृतिक आंदोलन रुका नहीं। कांशीराम ने दलित और पिछड़ी जातियों के स्थानीय नायक और नायिकाओं को भी पुनर्स्थापित किया। जैसे कोरी जाति की झलकारी बाई, यादव जाति के छाउर के अलावा बल्लू मेहतर, उदय पासी, चेतराम जाटव, बाँके चमार इत्यादि (पृ. 123)। महाराष्ट्र को कांशीराम ने कर्मभूमि के रूप में देखा, लेकिन वहाँ की कमियों से भी वे जल्दी वाक़िफ़ हो गये। महाराष्ट्र में मराठवाड़ा युनिवर्सिटी को डॉ. आम्बेडकर के नाम पर किये जाने को ले कर जो आंदोलन हुआ उसके जवाब में कांशीराम का कहना था कि राज्य से इसके लिए भीख माँगने से अच्छा है अपनी सत्ता हासिल कर अपने सांस्कृतिक प्रतीकों के नाम पर संस्थाएँ बनाई जाएँ। जैसा कि बाद में उत्तर प्रदेश में बसपा ने किया भी। समसामयिक दलित राजनीति के जाने-माने आलोचक आनंद तेलतुंबड़े ने भी कांशीराम के इस कार्य को सराहा है। तेलतुंबड़े के अनुसार कांशीराम को इस बात का पूरा श्रेय जाता है कि उन्होंने आम्बेडकर के प्रतीक को जनमानस से जोड़ा ही नहीं, बल्कि चतुराई से इस प्रतीक के राजनीतिक प्रभाव का इस्तेमाल किया जिससे समाज के सबसे शोषित और दलित वर्ग सत्ता से जोड़ा जा सका। (पृ. 102-103)

कांशीराम यदि किसी एक व्यक्ति से सबसे ज़्यादा प्रभावित थे तो वे आम्बेडकर ही थे, लेकिन आम्बेडकर को एक नये प्रारूप में ढालने और इस प्रतीक को जनांदोलन बनाने का काम उन्होंने अलग ढंग से किया। आम्बेडकर के मूल विचारों से कई बिंदुओं पर उनका मतभेद भी था। पहला, आम्बेडकर जाति का उन्मूलन चाहते थे, लेकिन कांशीराम का कहना था जैसे ब्राह्मणों ने जाति का इस्तेमाल कर लम्बे वक़्त तक शासन किया है, ब्राह्मणवाद के उन्मूलन के लिए दलित भी अब वही करेंगे। (पृ. 87-88) दूसरा, आम्बेडकर का मानना था कि गाँव दलितों के लिए बूचड़ख़ाना है और यदि वे गाँव छोड़ कर बड़े शहर चले जाएँगे तो वे इस शोषण से मुक्त हो सकते हैं। लेकिन कांशीराम ने पाया उनके शहर जाने पर भी जाति उनका पीछा नहीं छोड़ती। बड़े शहर में झुग्गी-झोपड़ी भी जातिगत आधार पर बनी होती है। इसलिए कांशीराम का मानना था



आनंद तेलतुंबड़े

महाराष्ट्र में मराठवाड़ा युनिवर्सिटी को डॉ. आम्बेडकर के नाम पर किये जाने को ले कर जो आंदोलन हुआ उसके जवाब में कांशीराम का कहना था कि राज्य से इसके लिए भीख माँगने से अच्छा है अपनी सत्ता हासिल कर अपने सांस्कृतिक प्रतीकों के नाम पर संस्थाएँ बनाई जाएँ। जैसा कि बाद में उत्तर प्रदेश में बसपा ने किया भी। दलित राजनीति के जाने-माने आलोचक आनंद तेलतुंबड़े ने भी कांशीराम के इस कार्य को सराहा है। तेलतुंबड़े के अनुसार कांशीराम को इस बात का पूरा श्रेय जाता है कि उन्होंने आम्बेडकर के प्रतीक को उन्होंने जनमानस से जोड़ा ही नहीं, बल्कि चतुराई से इस प्रतीक के राजनीतिक प्रभाव का इस्तेमाल किया जिससे समाज के सबसे शोषित और दलित वर्ग सत्ता से जोड़ा जा सका।

जब तक जातिविहीन समाज की संरचना नहीं होती दलितों को उन्हें अपनी जाति का इस्तेमाल अपनी हालत सुधारने और ब्राह्मणवाद के ख़ात्मे के लिए करना चाहिए। तीसरा, दलितों के लिए अलग निर्वाचक मण्डल के मुद्दे पर भी कांशीराम का आम्बेडकर से मतभेद था, हालाँकि दोनों ही मुख्यधारा में दलितों के लिए आत्मसम्मान चाहते थे। कांशीराम एक समतामूलक समाज चाहते थे जिसमें हर जाति को बराबरी का दर्जा मिले और हर जाति की अपनी पहचान हो। यही विचार बसपा का दार्शनिक सिद्धांत बना। चौथा, आम्बेडकर की शिक्षा-दीक्षा अमेरिका और इंग्लैण्ड में हुई थी और कांशीराम हमेशा एक ठेठ कार्यकर्ता के रूप में ही कर्मठ बने रहे। इन अंतरों के बाद भी आम्बेडकर की कांशीराम पर अभूतपूर्व छाप थी लेकिन वे अंध समर्थक नहीं थे। एक साक्षात्कार में उन्होंने साफ़ शब्दों में कहा है : 'आम्बेडकर ने किताबों से पढ़ा है लेकिन मैंने अपने जीवन और लोगों से पढ़ा है। और हाँ, वे किताबें इकट्ठा करते थे, मैंने लोगों को इकट्ठा किया है।' (पृ. 102)

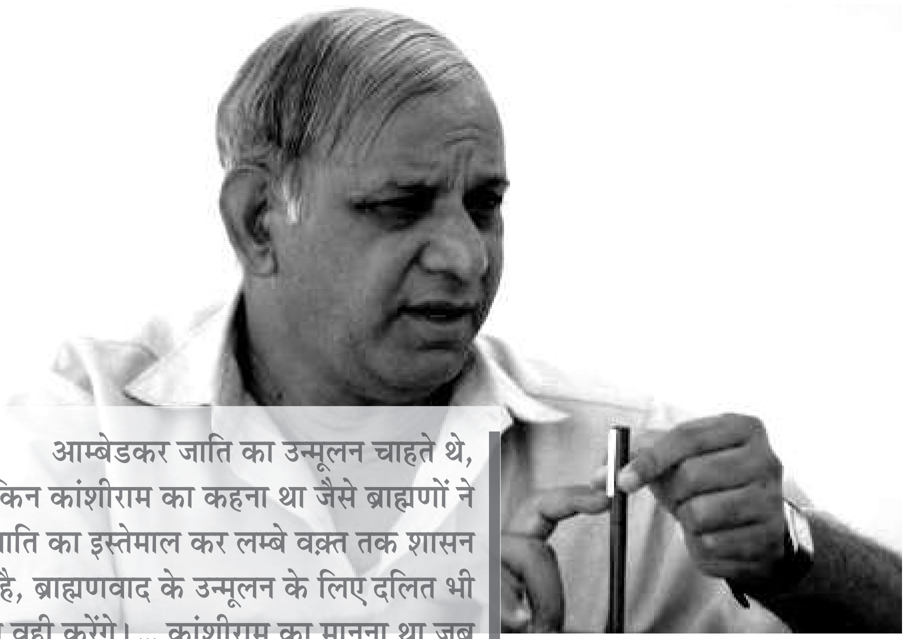
कांशीराम के लिए साध्य हमेशा ही साधन से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण था और इस दृष्टिकोण से कांशीराम अपने गुरु आम्बेडकर से कोसों दूर थे। राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना उनके लिए साध्य था, और इसके लिए वे व्यावहारिक रणनीति को प्राथमिकता देते थे। उनकी रणनीतियों और उनके पार्टी के गठबंधनों की तमाम आलोचनाएँ हुईं। उन्हें अवसरवादी की तरह देखा गया। कांशीराम का जीवन बिल्कुल सार्वजनिक और बहुजन जनता को समर्पित था। अपने एक साक्षात्कार में चुनावी ख़र्चे के बारे में पूछे जाने पर उनका जवाब था : 'ये सही है कि मेरा ख़र्च लाखों में नहीं करोड़ों में है, लेकिन ये जनता द्वारा जमा किया गया पैसा है ... मेरी पार्टी में एक लाख से अधिक कार्यकर्ता हैं, पच्चीस लाख कैडर हैं। हम ये धन इन लोगों से इकट्ठा करते हैं। और यदि कोई ये साबित कर दे कि मेरे पास कब्र बनाने के लिए भी निजी ज़मीन है तो मैं इस देश में सबसे क्रूरतम सज़ा के लिए तैयार हूँ ...।' (पृ. 176-77) कांशीराम की यह जीवनी बद्री नारायण ने जाने माने इतिहासकार रामचंद्र गुहा को समर्पित की है जिन्होंने उन्हें इसे जीवनी लिखने के लिए प्रेरित किया और हिम्मत प्रदान की। गुहा के अनुसार किसी लेखक के लिए जीवनी लिखने का काम तब और भी मुश्किल होता है जब पहले से ही कोई जीवनी उपलब्ध हो; चाहे अच्छी हो या फिर बुरी।[7]

II

कांशीराम के जीवन को सकारात्मक और आलोचनात्मक नियत से समझने के लिए कांशीराम की दूसरी जीवनी काफ़ी मददगार है जो अभय कुमार दुबे के गहरे शोध और विश्लेषणात्मक अध्ययन का नतीजा है। अभय कुमार दुबे के अनुसार कांशीराम ने एक चतुर रणनीतिकार होने के साथ-साथ कुशल जन-नायक होने का अभूतपूर्व परिचय दिया था। उन्होंने अपने समकालीन स्थानीय एवं राष्ट्रीय नेताओं के प्रभामण्डल की परवाह न करते हुए अपने ख़ुद को दलित जन-मानस के सामने 'बाबासाहेब' के बाद अगले 'साहेब' के रूप में बेहतरीन ढंग से तैयार कर पेश किया।[8] कांशीराम अपने पूना प्रवास के दिनों में जब डॉ. आम्बेडकर की जन्म तिथि रद्द करने के ख़िलाफ़ हुए आंदोलन से जुड़े तो उन्होंने तीन विशेष बातें सीखीं। पहला, दलितों के अधिकार जीतने के लिए दलित पैंथर की तरह केवल लड़ाकू होना ही ज़रूरी नहीं है, बल्कि शांतिपूर्ण आंदोलन से भी अपने लक्ष्य प्राप्त किये जा सकते हैं। दूसरा, इस आंदोलन के दौरान अनुसूचित जाति के कर्मचारियों को संगठित होते देख कर उन्हें संगठन के लिए नयी ज़मीन दिखी जिस पर एक राजनीतिक संगठन खड़ा किया जा सकता था। इन कर्मचारियों का दायरा

[7] ऐ.आर .वेंकटचलपति (2014).

[8] अभय कुमार दुबे (2001) : 290.



आम्बेडकर जाति का उन्मूलन चाहते थे, लेकिन कांशीराम का कहना था जैसे ब्राह्मणों ने जाति का इस्तेमाल कर लम्बे वक़्त तक शासन किया है, ब्राह्मणवाद के उन्मूलन के लिए दलित भी अब वही करेंगे।... कांशीराम का मानना था जब तक जातिविहीन समाज की संरचना नहीं होती दलितों को उन्हें अपनी जाति का इस्तेमाल अपनी हालत सुधारने और ब्राह्मणवाद के ख़ात्मे के लिए करना चाहिए। अलग निर्वाचक मण्डल के मुद्दे पर भी कांशीराम का आम्बेडकर से मतभेद था।... उन्होंने साफ़ शब्दों में कहा है : 'आम्बेडकर ने किताबों से पढ़ा है लेकिन मैंने अपने जीवन और लोगों से पढ़ा है। और हाँ, वे किताबें इकट्ठा करते थे, मैंने लोगों को इकट्ठा किया है।'

महार जाति और नव-बौद्धों के स्थानीय संबंधों से बहुत ज़्यादा बृहदतर था और इसका फैलाव पूरे देश के स्तर पर था। हालाँकि नौकरशाही सीधे-सीधे राजनीति के दायरे में नहीं आती लेकिन कांशीराम ने इस सरकारी तबक़े को 'उर्वर-दिमाग़', 'प्रतिभा' और 'धन' के मिश्रित 'बैंक' के रूप में देखा। तीसरा, उन्होंने पाया कि उच्च जाति वालों की ज़्यादती की शिकार केवल दलित जातियाँ ही नहीं, बल्कि अन्य पिछड़ी जातियाँ और अल्पसंख्यक समुदाय भी हैं जिन्हें संगठित किया जा सकता है। ऐसा बोध उन्हें महाराष्ट्र के ग़ैर-ब्राह्मण आंदोलन और फुले के जीवन से भी मिला।[9]

इस आंदोलन ने एक और बात रेखांकित की कि आज़ादी मिलने के बाद भी सार्वजनिक क्षेत्र में कुछ बातें अब भी अनकही रह गयी हैं। दलितों-आदिवासियों को संवैधानिक विशेषाधिकार मिलने के बावजूद उनसे सामाजिक दूरी का बरताव, उनका निरादर, अवहेलना, और राष्ट्र की मुख्यधारा से उनके अलगाव में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। मुद्दे की बात तो कांशीराम को यह दिखी कि संवैधानिक सुविधाएँ भी उन तक आसानी से नहीं पहुँच पा रही थीं, क्योंकि इन नीतियों को लागू करने का ज़िम्मा भी ज़्यादातर ऊँची जाति के अधिकारियों के पास ही था। कुल मिला कर ऐसे लोग जो सरकारी महकमों में आरक्षण की मदद या अन्य तरीक़ों से आ पाए थे, उनके लिए अपनी जगह

[9] वही : 293.

आत्मसम्मान से बनाए रखना भी बहुत आसान नहीं था।[10] आम्बेडकर से सीख लेते हुए कांशीराम ने बामसेफ़ के दिनों से ही इस बात पर ज़ोर दिया कि उन सारे लोगों में एक तरह की समानता है जो ब्राह्मणवादी व्यवस्था द्वारा सताए गये हैं। बामसेफ़ ने इन सारे समुदायों को अपने परिधि के अंदर लिया और उन्हें अपने संगठन के नाम में ही समाहित कर लिया।[11] कांशीराम अच्छी तरह समझ चुके थे कि राजनीतिक दल के अंदर वैचारिक मतभेद को पार्टी के आतंरिक लोकतंत्र से हल नहीं किया जा सकता, बल्कि यही पार्टी के अंदर नेताओं तथा कार्यकर्ताओं के बीच झगड़े की ख़ास वजह होती है। इसीलिए कांशीराम की दिलचस्पी न तो दलित पैंथर द्वारा चलाई गयी दलित अस्मिता की बहस में थी और न ही इस अस्मिता की बौद्ध और मार्क्सवादी व्याख्या में।[12] बुद्धिजीवियों के अलग-अलग ख़ेमों के बीच पुल का काम केवल बाबासाहेब आम्बेडकर की छवि ही कर सकती थी। और, कांशीराम इस बात को खूब समझते थे और उन्होंने इसका बखूबी इस्तेमाल किया।

अपनी *चमचा एज* पुस्तक में कांशीराम ने पहले तो पूना पैक्ट पर ठोस टिप्पणी लिखी जो आम्बेडकर के ऊपर गाँधी की जीत को दर्शाती है और फिर उन्होंने आम्बेडकरोत्तर भारत के सभी दलित नेताओं को चमचा क़रार दिया जिसमें कांग्रेस के बड़े नेता जगजीवन राम से लेकर जनता पार्टी के तत्कालीन युवा नेता रामविलास पासवान तक शामिल थे। उनका कहना था पूना-समझौता ने दलित नेताओं के नाम पर केवल चमचों को ही जन्म दिया है। एक तरफ़ आम्बेडकर की विरासत पर एकाधिकार क़ायम करना और दूसरी ओर आम्बेडकर के बाद के सभी दलित नेताओं के उपलब्धियों को ख़ारिज कर देना कांशीराम की ज़बरदस्त रणनीति थी। यह सच भी है कि इनमें से कोई भी नेता कम से कम आम्बेडकर की हैसियत के इर्द-गर्द कहीं नहीं थे। वे दलितों के लिए अलग पार्टी बनाने का सपना भी देखने की स्थिति में नहीं थे। कांशीराम ने यह सपना देखा। उनका मक़सद साफ़ था : दलित अपने समर्थन से दूसरे को सत्ता तक पहुँचाने के बजाय अपने हाथ में सत्ता की बागडोर ले और विधायिका में अपने लिए जगह बनाए।[13] बसपा बनाने के पीछे कांशीराम का मुख्य मक़सद भी सत्ता में भागीदारी का था, पर सत्ता केवल दलित-मतों से प्राप्त नहीं हो सकती थी। इसीलिए बसपा ने अपने शुरुआती दिनों में सपा और भाजपा के साथ कई गठबंधन किये जो कभी नैतिक और कभी व्यावहारिक तौर पर उचित ठहराए गये। भाजपा के साथ गठबंधन करने के लिए विचार के धरातल पर समझौता करना पड़ा, लेकिन तथाकथित समान सोच और सामाजिक न्याय की संरक्षक पार्टियों के साथ भी यह गठबंधन ज़्यादा नहीं टिक पाए। बामसेफ़ ने अन्य पिछड़ी जातियों और दलितों को एक -दूसरे का समर्थक मान लिया था, पर ज़मीनी स्तर पर इन दोनों समुदायों के बीच गहरे द्वंद्व और अंतर्विरोध थे जिसका प्रभाव राजनीति में दिखने लगा।[14] जल्दी ही जातियों का समीकरण भी बदलता गया और बसपा मूलतः उत्तर प्रदेश में, जहाँ उसका सबसे बड़ा आधार बना, दलितों में से एक वर्चस्ववादी[15] जाति 'जाटव या चमार' की पार्टी बन गयी। राजनीतिक लहज़े में बात की जाए तो ये एक बड़ी वजह रही होगी कि कांशीराम ने बेहिचक मायावती को ही पार्टी का मुख्य चेहरा बनाया, क्योंकि वे इसी वर्चस्ववाली जाति से आती हैं। नतीजा यह निकला कि बसपा के सत्ता में आने पर भी

---

[10] मीता राजीवलोचन एवं एम. राजीवलोचन (2014) : 95-96.

[11] वही : 97.

[12] अभय कुमार दुबे, (2001) : 294.

[13] वही : 295-96.

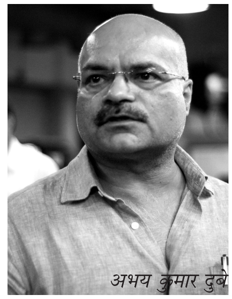
[14] वही : 312.

[15] समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास द्वारा परिभाषित 'वर्चस्ववादी जाति' के कई लक्षणों में संख्या में बहुलता भी एक है और उत्तर प्रदेश में तमाम दलित जातियों में जाटव जाति सबसे वर्चस्ववादी कहे जा सकते हैं.

दलितों के बीच से ही कई जातियाँ विकास और सत्ता की भागीदारी से वंचित होती हुई लगातार सीमांत की ओर धकेली जाती रहीं।[16]

संगठन खड़ा करने और लोगों को लामबंद करने के लिए भी कांशीराम के प्रयोग अभूतपूर्व थे। पहले वे *ऑप्रेस्ड-इण्डियन* नाम का अख़बार निकालते थे। फिर बाद में वे *बहुजन-संगठक* साप्ताहिक निकालने लगे जो अंग्रेज़ी और हिंदी दोनों में छपता था। यही पार्टी का मुख्य पत्र था। दलितों के साथ-साथ पिछड़ों, अल्पसंख्यकों के प्रति भी अपनी प्रतिबद्धता को पार्टी के मुखपत्र में खूब उजागर किया गया।[17] राजनीति में दोस्त और दुश्मन दोनों का महत्त्व होता है और कांशीराम इस बात को भली भाँति समझते थे। अपने समर्थकों को मज़बूती से एकत्रित करने के लिए सही विपक्ष का चुनाव बहुत ज़रूरी है। उन्होंने सवर्ण जातियों का ख़ौफ़ ख़त्म करने हेतु चतुराई भरा नारा दिया 'तिलक, तराजू और तलवार— इनको मारो जूते चार।' उनकी राजनीति स्पष्ट थी। शुरुआती दौर में कई नुक्कड़ सभाओं से वे ऊँची जाति के लोगों से बेहिचक वापस जाने को कह देते थे कि उनका वोट उन्हें नहीं चाहिए। पिछड़ों के बीच भी उनका सबसे अधिक ध्यान अति-पिछड़ों पर था जो न केवल दलितों की तरह छुआछूत से पीड़ित थे बल्कि उनकी रोज़मर्रा की दिक़्क़तें भी दलितों के ही समान थीं। अल्पसंख्यक समुदाय में भी उनकी दिलचस्पी उन लोगों में ज़्यादा थी जिन्होंने जाति-प्रथा के दंश से बचने के लिए ही धर्म-परिवर्तन किया था। वे यह भी मानते थे कि राजनीति में सफलता के लिए सबसे पहले ग़ैर-राजनीतिक आधार को समेकित करने की ज़रूरत है और इसीलिए अपने शुरू के राजनीतिक सफ़र में किसी पद की लालसा रखे बग़ैर वे 'आम्बेडकर एजुकेशन सोसाइटी' के लिए काम करते रहे। उनके मत में दलित नौकरशाह की नयी पौध उनकी ग़ैर-राजनीतिक फ़सल में भारी इज़ाफ़ा करने वाली थी।[18] इसका आशान्वित फल उन्हें निश्चित तौर पर मिला।

दलीय प्रणाली की तीखी स्पर्धा और चुनावी राजनीति में काफ़ी कम वक़्त में ही बसपा ने जो ऊँचाइयाँ प्राप्त की


अभय कुमार दुबे

आर्य बनाम अनार्य के इस नस्ली सिद्धांत को ठुकराने वाले आम्बेडकर ने मनु को जातिवाद का संस्थापक मानने से भी इनकार कर दिया था। लेकिन बहुजन समाज पार्टी के माध्यम से देश की राजनीति में मनुवाद नामक राजनीतिक अभिव्यक्ति लोकप्रिय होनी थी जिसे न केवल ब्राह्मणवाद का नया नाम बन जाना था, वरन् जिसके माध्यम से ब्राह्मणवाद के स्रोत की आधुनिकतावादी सीमाओं का प्राचीन भारतीय अतीत में विस्तार भी हो जाना था। बसपा को एक ऐसा राजनीतिक दल बनाना था जिसे आम्बेडकर की भाँति दलितों को आधुनिक अर्थों में मज़दूर वर्गों के अंग के रूप में देखने का प्रयोग करने की फ़ुर्सत नहीं मिल सकती थी और न ही ग्रामीण समाज में खेतिहर मज़दूरों के रूप में दलितों की राजनीतिक गोलबंदी का कोई कार्यक्रम उसके एजेण्डे पर होना था। ज़ाहिर है कि आर्थिक शोषण के बजाय इस पार्टी का ज़ोर आत्मसम्मान और अस्मिता के प्रश्नों पर होना था। इस पार्टी को तो चुनावी राजनीति और निर्मम जोड़-तोड़ के ज़रिये सिर्फ़ 'चाबियों की चाबी' की तलाश में व्यस्त रहना था।

[16] बद्री नारायण (2013).
[17] अभय कुमार दुबे (2002) : 285.
[18] अभय कुमार दुबे (2001) : 297.

उसकी कोई सानी नहीं है। समाज को ज़्यादा लोकतांत्रिक बनाने के प्रकरण में ऐसी राजनीति की ज़रूरत होती है। ग़रीब और अधीनस्थ जनता के अंदर अस्मिता-दर्शन और आत्मसम्मान जगाने के लिए कांशीराम का जो योगदान है इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं, लेकिन ऐसे राजनीति की ज़िम्मेदारियाँ इससे कहीं ज़्यादा हैं। ज़ाहिर है इस पार्टी और राजनीति ने व्यावहारिक स्तर पर जो पाया वह विदित है, लेकिन सैद्धांतिक स्तर पर जो विरोधाभास इस पार्टी और इसकी राजनीति में शुरू से ही निहित थी उसे तो ज़मीनी सतह पर आना ही था। कांशीराम ने जैसे अपने अंदाज़ में 'गुरु-किल्ली'[19] की व्याख्या की, वह उन्हें बसपा की सत्ता-प्राप्ति से हासिल भी हुआ, लेकिन जल्दी ही बहुजन की अपनी आंतरिक एकता बिखर गयी और राज-सत्ता में आने के बाद भी बसपा, आम्बेडकर की मूर्तियाँ और उनके नाम से पार्क बनाने जैसी प्रतीकात्मक राजनीति से आगे नहीं बढ़ पायी। यहाँ तक कि बसपा के अपने कार्यकर्त्ता भी पार्टी के ऐसे प्रतीकात्मक फ़ैसलों से बहुत ख़ुश नहीं थे। दलितों के मूलभूत मुद्दों की अनदेखी कर प्रतीकात्मक फ़ैसलों का ख़ास औचित्य था भी नहीं।[20] बसपा की इस नियति की वजह कांशीराम द्वारा आम्बेडकर के विचारों को तोड़-मरोड़ कर इस्तेमाल करना भी था। आम्बेडकर का 'शिक्षित बनो', 'संघर्ष करो', 'संगठित करो' का नारा दलितों को भारतीय पुनर्जागरण का अंग बनाने के लिए था, जबकि कांशीराम ने दलितों की शिक्षा के लिए कुछ ख़ास नहीं किया। उन्होंने शिक्षा को दलितों के लिए नौकरशाही में घुसने के एक साधन मात्र की तरह सीमित कर दिया। इतना ही नहीं, जिस प्रतीकात्मक राजनीति को बसपा ने अपना मूल आधार बना लिया, आम्बेडकर उसके बिलकुल ख़िलाफ़ थे।[21] कांशीराम ने आम्बेडकर को कैसे केवल अपनी सहूलियत से इस्तेमाल किया, यह अभय कुमार दुबे की निम्नलिखित टिप्पणी से समझा जा सकता है :

> अछूतों के सामाजिक और जातीय स्रोत के बारे में आम्बेडकर की वैचारिक और मानवशास्त्रीय स्थापनाएँ दरकिनार करते हुए इस पार्टी ने अपनी विचारधारात्मक भित्ति आर्य बनाम अनार्य की ज्योतिबा फुले द्वारा प्रवर्तित अवधारणा से ली। यह बहुजन थीसिस उत्तर भारत में प्रचलित नहीं थी। आर्य बनाम अनार्य के इस नस्ली सिद्धांत को ठुकराने वाले आम्बेडकर ने मनु को जातिवाद का संस्थापक मानने से भी इनकार कर दिया था। लेकिन बहुजन समाज पार्टी के माध्यम से देश की राजनीति में मनुवाद नामक राजनीतिक अभिव्यक्ति लोकप्रिय होनी थी जिसे न केवल ब्राह्मणवाद का नया नाम बन जाना था, वरन् जिसके माध्यम से ब्राह्मणवाद के स्रोत की आधुनिकतावादी सीमाओं का प्राचीन भारतीय अतीत में विस्तार भी हो जाना था। बसपा को एक ऐसा राजनीतिक दल बनाना था जिसे आम्बेडकर की भाँति दलितों को आधुनिक अर्थों में मज़दूर वर्गों के अंग के रूप में देखने का प्रयोग करने की फ़ुर्सत नहीं मिल सकती थी और न ही ग्रामीण समाज में खेतिहर मज़दूरों के रूप में दलितों की राजनीतिक गोलबंदी का कोई कार्यक्रम उसके एजेण्डे पर होना था। ज़ाहिर है कि आर्थिक शोषण के बजाय इस पार्टी का ज़ोर आत्मसम्मान और अस्मिता के प्रश्नों पर होना था। इस पार्टी को तो चुनावी राजनीति और निर्मम जोड़-तोड़ के ज़रिये सिर्फ़ 'चाबियों की चाबी' की तलाश में व्यस्त रहना था। उसे अगर किसी पहलू से आम्बेडकर का अनुयायी बनाना था, तो केवल यही था।[22]

मूल रूप से समाजशास्त्र या मानवशास्त्र का विद्यार्थी न होते हुए भी डॉ. आम्बेडकर ने जाति संबंधित सराहनीय शोध किये हैं। जाति से संबंधित उनके दो लेख सबसे ज़्यादा उल्लेखनीय हैं। पहला

---

[19] डॉ. आम्बेडकर ने दलितों के लिए राजसत्ता को 'चाबियों का चाबी' अर्थात् 'मास्टर की' क़रार दिया था और इसी को कांशीराम ने अपनी पंजाबी ज़ुबान में 'गुरु-किल्ली' कहा था. आम्बेडकर ने सत्ता को सामाजिक प्रगति में सहायक माना था, लेकिन इसे किसी पद या दफ़्तर के रूप में नहीं देखा था. उनके सत्ता-विमर्श के नज़रिये से नीति निर्धारण में दलितों की बेहतर भागीदारी ही अहम थी. कांशीराम ने इस अवधारणा को पूरी तरह पलट दिया. देखें : अभय कुमार दुबे (2001-2002).

[20] अभय कुमार दुबे (2001) : 305.

[21] वहीं : 308.

[22] अभय कुमार दुबे (2002) : 269-70.

1916 में कोलम्बिया युनिवर्सिटी के सेमिनार में पढ़े गये उनके लेख 'कॉस्ट्स इन इण्डिया : देयर मेकैनिज़म, जेनेसिस ऐण्ड डिवेलपमेंट'[23] और दूसरा 1936 में जात-पाँत तोड़क मण्डल के लिए लिखा गया अध्यक्षीय भाषण, जो जाति-प्रथा के ख़िलाफ़ विद्रोही तेवर के कारण पढ़ा न जा सका, और बाद में *एनिहिलेशन ऑफ़ कास्ट* शीर्षक से छपा। दूसरी कृति का महत्त्व जाति-उन्मूलन अभियान और जाति-व्यवस्था विरोधी कार्यकर्ताओं के लिए 'घोषणापत्र' जैसा था। आम्बेडकर जीवन पर्यंत यथासम्भव जाति उन्मूलन की नुमाइंदगी करते रहे। लेकिन कांशीराम ने उनके सपने को कुछ और ही दिशा दी। जाने-माने दलित चिंतक तुलसीराम[24] के अनुसार कांशीराम ने आम्बेडकर के 'जाति-उन्मूलन' की दृष्टि को ही चकनाचूर नहीं किया, बल्कि उनकी पार्टी बसपा ने महात्मा बुद्ध के 'बहुजन' के भी मायने बदल दिये। ये दोनों ही बातें अप्रासंगिक के साथ-साथ अ-ऐतिहासिक भी हैं। तुलसीराम के मत में जातिवाद और हिंदूवाद में एक गहरा संबंध है। वे अक्सर कहते थे विभिन्न जातियाँ हिंदूवाद की सबसे मज़बूत स्तम्भ हैं और इनकी रक्षा के लिए हिंदू धर्म के सभी देवी-देवताओं को हथियारबंद दिखाया गया है और परिणामस्वरूप आज भी दलितों पर वैदिक हथियारों से हमले जारी हैं। ऐसी स्थिति मे जब जातियाँ मज़बूत होती हैं तो हिंदू धर्म स्वत: ही मज़बूत होता चला जाता है।[25] मतलब साफ़ है कि जातिवाद का अतिवाद आख़िरकार साम्प्रदायवाद में तब्दील होता है। इतना ही नहीं इतिहास इस बात का साक्षी है कि साम्प्रदायिक दंगों में तथाकथित मध्य और निम्न जातियाँ ही पैदल सैनिक की तरह इस्तेमाल की जाती हैं। तुलसीराम इस बात को भली भाँति जानते थे कि सम्प्रदायवाद के ख़िलाफ़ कोई भी लड़ाई जातिवाद के भरोसे नहीं लड़ी जा सकती और ऐसी किसी भी कोशिश



गोपाल गुरु

बसपा के नेता दलित जनता को अपने सांस्कृतिक प्रतीक हाथी को ज़ब्त करके उसे नये राजनीतिक अवतार ब्रह्मा, विष्णु, महेश के साथ विलय कर देने की सलाह दे रहे हैं। ऐसे सात्विक अंधेपन की तरफ़दारी इस बात को दरकिनार कर के की जा रही है कि दलित मुक्ति आंदोलन के इतिहास, वर्तमान और भविष्य पर इसका कितना भयानक असर होगा। ऐसी जल्दबाज़ी दलितों के इतिहास को ही नेस्तनाबूद कर देगी— कहाँ तो आम्बेडकर ने हाथी को अपना प्रतीक चिह्न के रूप में चुना जो शक्ति और स्थायी आत्मविश्वास का पर्याय था। सर्वजन तक के सफ़र में जल्दबाज़ी एक और वजह से भी है— बहुजन के साथ गठबंधन के विकल्प तलाशे बग़ैर ही बसपा उस 'सर्वजन' के साथ जाने को आतुर है जिसका आविष्कार उसने अभी-अभी किया है। और इस जल्दबाज़ी में 'बहुजन' बहुजन समाज पार्टी के हाथों एक अनौपचारिक और अपवित्र मौत मर रहा है ...।

---

[23] डॉ. आम्बेडकर जब कोलम्बिया में अर्थशास्त्र की पढ़ाई कर रहे थे, तो उन्होंने वहाँ के एंथ्रोपोलॉजी सेमिनार में 'कास्ट्स इन इण्डिया : देयर मैकेनिज़म, जेनेसिस ऐंड डिवेलपमेंट' शीर्षक से संगोष्ठी पत्र पढ़ा था.

[24] दलित चिंतक तुलसीराम सम्प्रदायवाद और दलित अतिवाद दोनों के ही घोर निंदक थे. उनकी मान्यता थी कि दलित लेखन के लिए जन्मना दलित होना अपरिहार्य नहीं है. देखें, बजरंग बिहारी तिवारी (2015), *मुर्दहिया* और *मणिकर्णिका* उनके जीवनी की पहली दो कड़ियाँ हैं. तीसरी कड़ी लिखने के पहले ही वे 13 फ़रवरी, 2015 को हमेशा के लिए विदा हो गये.

[25] तुलसीराम (2014).

में जीत अंततः सम्प्रदायवाद की ही होगी। उनका साफ़ मानना था कांशीराम और बसपा के रास्ते चल कर दलितों का न तो उत्थान सम्भव है न ही निर्वाण। कांशीराम और बसपा की राजनीति के प्रति उनकी आलोचना बिल्कुल स्पष्ट थी :

> नब्बे के दशक में कांशीराम ने एक अत्यंत ख़तरनाक नारा दिया था— 'अपनी-अपनी जातियों को मज़बूत करो।' इसी नारे पर बहुजन समाज पार्टी खड़ी हुई। परिणामस्वरूप डॉ. आम्बेडकर द्वारा स्थापित जाति-व्यवस्था विरोधी आंदोलन की अवधारणा को मायावती ने शुद्ध जातिवादी अवधारणा में बदल दिया। इतना ही नहीं, गौतम बुद्ध द्वारा दी गयी 'बहुजन-हिताय' की धारणा को चकनाचूर करके उन्होंने 'सर्वजन हिताय' का नारा दिया जिसका व्यावहारिक रूप सभी जातियों के गठबंधन के अलावा कुछ भी नहीं था। परिणामस्वरूप दलितों की विभिन्न जातियों के साथ-साथ ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के अलग-अलग सम्मेलनों की बसपा ने भरमार कर दी जिससे हर जाति का दम्भी गौरव ख़ूब पनपने लगा। ब्राह्मण सम्मेलनों के दौरान बसपा के मंचों पर हवन कुण्ड खोदे जाने लगे और वैदिक मंत्रों के बीच ब्राह्मणत्व के प्रतीक परशुराम का फ़रसा (वह भी चाँदी का) मायावती को भेंट किया जाने लगा। इस दौरान दलित बड़े गर्व के साथ नारा लगाते थे— हाथी नहीं गणेश हैं, ब्रह्मा-विष्णु-महेश हैं।[26]

एक और विषय जिस पर चर्चा यहाँ लाज़िमी है : आम्बेडकरोत्तर भारत में 'बौद्धिक दलित विमर्श' और 'सत्ता में दलित राजनीति' के अंतःसंबंध। अक्सर ही ये दोनों धड़े एक दूसरे को संशय की दृष्टि से देखते रहे हैं और यही ख़ास वजह है कि दोनों में आपस में आदान-प्रदान काफ़ी कम हुए हैं। राजनीतिक-समाजशास्त्री धीरूभाई शेठ दलितों के बौद्धिक विमर्श को 'विशुद्ध दलित विमर्श' का नाम देते हैं जो आम्बेडकरवादी रास्ते से दलित समाज के अंदर एक रचनात्मक चेतना का निर्माण चाहता है। आम्बेडकर की यह मान्यता उनके लिए बहुत अहम रही है कि 'इतिहास इस बात की गवाही देता है कि कोई भी राजनीतिक क्रांति सामाजिक और धार्मिक क्रांति के बाद ही आती है'।[27] पश्चिम और दक्षिण भारत के राज्यों में दलितों के बीच सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना निर्माण के परिणाम पर्याप्त रूप से दिखते हैं। इस बौद्धिक धड़े को नैतिकता की राजनीति कहा जा सकता है, लेकिन धीरूभाई इस नैतिक राजनीति में भी एक छोटी समस्या यह पाते हैं कि जब तक यह राजनीति दलित जनता को एक सुदृढ़ विपक्ष की राजनीति के लिए तैयार नहीं करता है, भारी-भरकम विचारधारात्मक राजनीति की माँग से अंततः ऐसी जनता कांग्रेस की सरलीकृत राजनीति की ओर खिंच जाती है। दूसरे, ऐसी राजनीति ने दलित आंदोलन को ग़ैर-सरकारी संस्थाओं (एनजीओ) की ओर भी धकेल दिया है जिसके फलस्वरूप बड़े जनांदोलनों के लिए दलित जनता की लामबंदी भी मुश्किल हो गयी है।[28] तीसरी समस्या है दलित बुद्धिजीवियों का ज़मीनी आंदोलन और जनता के लामबंदी से कटने का। अभय कुमार दुबे इस कटने को बामसेफ़ से लेकर डीएस-फ़ोर होते हुए बसपा तक के कांशीराम के सफ़र के प्रति बुद्धिजीवियों के उदासीन रवैये के ज़रिये दर्शाते हैं। वे लिखते हैं:

> शायद ही किसी प्रमुख बुद्धिजीवी या समाज-विज्ञानी ने कांशीराम को गम्भीरता से लिया हो। दलितों में काम करने वाले वामपंथी शक्तियाँ उस ज़माने में कुछ-कुछ व्यंग्य के साथ ही साइकिल पर घूमते रहने वाले कांशीराम के बारे में बात करती थीं। समाचार पत्रों में भी डीएस-फ़ोर की साइकिल यात्राएँ ख़बरों के हाशियों पर ही रह गयीं। पत्रकार और अन्य प्रेक्षक कांशीराम की बढ़ती हुई

---

[26] वही : 7.

[27] बी.आर. आम्बेडकर (2008) : 10.

[28] गोपाल गुरु (2005) : 22-23.

[29] अभय कुमार दुबे (2002) : 278.

लोकप्रियता और 'जय-भीम' के अभिवादन का नया मर्म नहीं समझ पाए। परम्परागत शैली के दलित बुद्धिजीवियों ने भी नयी पार्टी पर ध्यान नहीं दिया।[29]

इस बहस में दो और विवादस्पद मुद्दे हैं जिस पर बातचीत यहाँ ज़रूरी है। पहला है बसपा द्वारा 'बहुजन' श्रेणी को बदल कर 'सर्वजन' बनाने का। और दूसरा राजनीतिक विमर्श में 'ब्राह्मणवाद' के जगह 'मनुवाद' के प्रयोग का। पहले हम 'बहुजन बनाम सर्वजन' पर बात करेंगे। गोपाल गुरु के अनुसार बहुजन अपने आप में एक अस्पष्ट श्रेणी है और सर्वजन तो इससे भी ज़्यादा अस्पष्ट है। कम से कम 'बहुजन' की मदद से जनसंख्या के साढ़े तीन प्रतिशत बनाम बाक़ी जो बहुसंख्यक हैं, के बीच ध्रुवीकरण तो सम्भव होता है। लेकिन दूसरी ओर किसी ध्रुवीकरण के अभाव में सर्वजन की अपनी कोई आकृति ही नहीं बनती। गुरु मानते हैं कि बहुजन का अपना इतिहास है, और एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के तहत सांस्कृतिक आकाओं से उनका संघर्ष लगातार विकसित हुआ है।[30] दलित नेता जिस सर्वजन को सार्वभौम बता कर उसकी वकालत कर रहे हैं, वह दरअसल आकस्मिक और अनिश्चित है। बहुजन को सर्वजन में ही मिला कर सार्वभौम बनाने की कोशिश बहुजन के इस योगदान को भी नज़रअंदाज़ करती है जो इसने दलित-बहुजन एकता बनाने में निभाई है। इसके अलावा सर्वजन की तरफ़दारी एवं इस श्रेणी के लिए जल्दबाज़ी उस समर्थन का भी निरादर है जो 'बहुजन-समाज' ने तथाकथित दलित पार्टियों को अब तक दिया है। 'बहुजन' छोड़ कर 'सर्वजन' अपनाने की जल्दबाज़ी को भी गुरु एक प्रत्यावर्ती क़दम के रूप में देखते हैं :

> बसपा के नेता दलित जनता को अपने सांस्कृतिक प्रतीक हाथी को ज़ब्त करके उसे नये राजनीतिक अवतार ब्रह्मा, विष्णु, महेश के साथ विलय कर देने की सलाह दे रहे हैं। ऐसे सात्विक अंधेपन की तरफ़दारी इस बात को दरकिनार कर के की जा रही है कि दलित मुक्ति आंदोलन के इतिहास, वर्तमान और भविष्य पर इसका कितना भयानक असर होगा। ऐसी जल्दबाज़ी दलितों के इतिहास को ही नेस्तनाबूद कर देगी— कहाँ तो आम्बेडकर ने हाथी को अपना प्रतीक चिह्न के रूप में चुना जो शक्ति और स्थायी आत्मविश्वास का पर्याय था। सर्वजन तक के सफ़र में जल्दबाज़ी एक और वजह से भी है— बहुजन के साथ गठबंधन के विकल्प तलाशे बग़ैर ही बसपा उस 'सर्वजन' के साथ जाने को आतुर है जिसका आविष्कार



तुलसीराम

तुलसीराम के अनुसार कांशीराम ने आम्बेडकर के 'जाति-उन्मूलन' की दृष्टि को ही चकनाचूर नहीं किया, बल्कि उनकी पार्टी बसपा ने महात्मा बुद्ध के 'बहुजन' के भी मायने बदल दिये। ये दोनों ही बातें अप्रासंगिक के साथ-साथ अ-ऐतिहासिक भी हैं। तुलसीराम के मत में जातिवाद और हिंदूवाद में एक गहरा संबंध है। वे अक्सर कहते थे कि विभिन्न जातियाँ हिंदूवाद की सबसे मज़बूत स्तम्भ हैं और इनकी रक्षा के लिए हिंदू धर्म के सभी देवी-देवताओं को हथियारबंद दिखाया गया है और परिणामस्वरूप आज भी दलितों पर वैदिक हथियारों से हमले जारी हैं। ऐसी स्थिति में जब जातियाँ मज़बूत होती हैं तो हिंदू धर्म स्वतः मज़बूत होता चला जाता है।

---

[30] गोपाल गुरु (2005) : 25-26.

[31] वही : 28.

> उसने अभी-अभी किया है। और इस जल्दबाज़ी में 'बहुजन' बहुजन समाज पार्टी के हाथों एक अनौपचारिक और अपवित्र मौत मर रहा है ...।[31]

दूसरा मुद्दा है ब्राह्मणवाद से मनुवाद तक के सफ़र का। हालाँकि इस मुद्दे पर भी दलित बुद्धिजीवियों में एक राय नहीं है, पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि देश की राजनीति में बृहत्तर लोकतांत्रिक बदलाव के फलस्वरूप सकारात्मक परिवर्तन हुए हैं। धीरूभाई शेठ भारत में करवट लेते दलित आंदोलन के कई पहलुओं को एक अलग दृष्टि से देखते हैं। वे तो ब्राह्मणवाद की जगह मनुवाद को सत्तापरक दलित राजनीति की ओर से किया गया बौद्धिक विमर्श में एक बड़ा योगदान मानते हैं। हालाँकि वे यह भी बताते हैं कि यह बसपा का कोई मौलिक विचार नहीं है बल्कि दलित आंदोलन शुरू से ही मनुस्मृति विरोधी रवैया अपनाता रहा है और इसीलिए मनुवाद के इस्तेमाल में न कोई सैद्धांतिक विरोधाभास है और न ही कोई वैचारिक त्रुटि। वे यह भी मानते हैं कि दलित राजनीति को साझा सामाजिक एवं आर्थिक हितों को ध्यान में रख कर समाज के अन्य सामाजिक तबक़ों के साथ भी गठबंधन में जाना चाहिए। उनका मानना है केवल विमर्श की राजनीति गठबंधन की राजनीति में अकसर बाधक होती है और इसीलिए इस मायने वे उत्तर प्रदेश में मायावती की गठबंधन-राजनीति की सराहना करते हैं।[32] इतना ही नहीं, उनका यह तर्क बहुत दमदार है कि ब्राह्मणीय विचारधारा को यदि मनुवाद के जुमले में इस्तेमाल किया जाए तो व्याख्यात्मक हल ही सरल नहीं होगा, बल्कि सामाजिक अन्याय और ग़ैर-बराबरी की समस्या का भी निराकरण बेहतर होगा।[33] इसीलिए इस सफ़र को वे दलित आंदोलन के अंदर उपजे सकारात्मक बदलाव के रूप में देखते हैं :

> दलित आंदोलन का विकास ब्राह्मणवाद विरोध से आगे चलकर मनुवाद विरोध तक हो चुका है। यह एक ऐसा वैचारिक परिवर्तन है जिसमें विशुद्ध विमर्श की राजनीति करने वाले दलित बुद्धिजीवी दिलचस्पी दिखाने के लिए तैयार नहीं है। यह अवधारणात्मक नवाचार स्पर्धामूलक लोकतांत्रिक राजनीति की देन है। ब्राह्मणीय विचारधारा को मनुवाद के रूप में व्यक्त करने से व्याख्यात्मक मक़सद भी बेहतर हल होगा, और सामाजिक अन्याय और विषमता की भारतीय समस्या का निराकरण भी बेहतर ढंग से हो सकेगा। मनुवाद सामाजिक अन्याय के विभिन्न रूपों और सामाजिक बहिर्वेशन पर मुहर लगाने वाली समकालीन जातिप्रथा को कहीं अच्छी तरह निरूपित कर सकता है। ब्राह्मणवाद मुख्यत: जातियों के कर्मकाण्डीय संबंधों को व्यक्त करता है। मनुवाद के ज़रिये न केवल ब्राह्मणों द्वारा की जाने वाली नाइंसाफ़ी पर रोशनी पड़ती है, बल्कि राजपूतों, बनियों, रंग रुतबे वाली किसान जातियों, और कुछ ख़ास तरह की तथाकथित 'निचली जातियों' द्वारा थोपे जाने वाले उत्पीड़न की संरचनाएँ भी स्पष्ट होती हैं।[34]

आम्बेदकरोत्तर दलित राजनीति से संबंधित एक और मुद्दा है जो लम्बे समय से विचार-विमर्श का विषय रहा है। वह है आर्थिक विकास के विकल्प का चुनाव। यहाँ पर सत्ता की राजनीति से जुड़े दलित नेताओं के अलावा बौद्धिक ख़ेमे में भी एक आवाज़ है जो नवउदारतावादी आर्थिक विकल्प की पैरवी करता है। लेकिन यह सवाल फिर एक बार हमें आम्बेडकर से रूबरू होने के लिए बाध्य करता है। आनंद तेलतुंबड़े और गोपाल गुरु जैसे बुद्धिजीवियों का साफ़ मानना है कि दलित नेता भूमण्डलीकरण और फुले-आम्बेडकर दोनों की बात एक साथ नहीं कर सकते, क्योंकि आम्बेडकर मानते थे ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद दोनों जोंकें हैं जो मेहनतकश जनता का ख़ून चूसती हैं।[35] बहरहाल, दलित बुद्धिजीवियों और दलित राजनीति के नेताओं के बीच संवादहीनता साफ़ नज़र आती है। यह

---

[32] वही : 24.

[33] धीरूभाई शेठ (2009) : 187.

[34] वही : 175.

[35] गोपाल गुरु (2005) : 29.

खाई यदि दोनों पक्षों की पहलक़दमी से कम हो सके, तो इसमें आंदोलन और विमर्श दोनों का ही फ़ायदा है और इससे भी ज़्यादा फ़ायदा है उस तमाम पीड़ित जनता का जिसका उत्थान ऐसी राजनीति के केंद्र में है। इसके अलावा, एक सीख हमें इतिहास से भी लेनी पड़ेगी कि समुदायों की राजनीति को अस्मिता की राजनीति मात्र से आगे बढ़ना लाज़िमी है। अस्मिता की राजनीति की कमियों को समझना होगा। शायद इन्हीं कमियों की वजह से फुले और आम्बेडकर भी अस्मिता की राजनीति से ऊपर उठ कर राजनीति के एक नैतिक ढाँचे की ओर बढ़े थे।

पिछले तीन दशक में पार्टी-पॉलिटिक्स वाली दलित राजनीति की धुरी कांशीराम के प्रयोगों के इर्द-गिर्द घूमती रही है। इसकी मुख्य वजह है अस्मिता की राजनीति का भरपूर दोहन।[36] पर इस राजनीति का हिंदुत्व की ताक़तों द्वारा जम कर दुरुपयोग भी हुआ है और दलित राजनीति की इस प्रवृत्ति का प्रगतिशील दलित बौद्धिक वर्ग द्वारा विरोध भी किया गया है। कुल मिला कर अपनी तमाम सफलताओं-विफलताओं के साथ आज की दलित राजनीति इस समय ख़ासे बुरे वक़्त से गुज़र रही है। एक दशक पहले गोपाल गुरु ने लिखा था कि समकालीन भारत में दलित राजनीति को जानुस[37] की तरह दो विरोधभासी चेहरों के रूप में समझा जा सकता है। पहला चेहरा प्रगति की उम्मीद जगाता है, वहीं दूसरा चेहरा प्रतिगामिता की मिसाल पेश करता है।[38]

आज बसपा अपने सारे प्रयोग करते हुए 'बहुजन' से लेकर 'सर्वजन' तक का चक्र पूरा कर चुकी है। क्या इस राजनीति के सकारात्मक चेहरे की मलिनता इसी तरह के प्रयोगों का अवांछित फलितार्थ नहीं है? अभी हाल में दिल्ली विधान सभा के चुनाव में आम आदमी पार्टी द्वारा सभी सुरक्षित सीटों पर जीत और उत्तर प्रदेश समेत सारे देश में 2007 के बाद बसपा के निरंतर गिरते वोट प्रतिशत के आधार पर तो बहुत से विश्लेषकों ने बसपा और अन्य जाति आधारित राजनीति करने वाली पार्टियों की शोकांतिका ही लिख दी है। उनका कहना है कि भारतीय राजनीति में आने वाला वक़्त उत्तर-विचारधारात्मक और उत्तर-अस्मितावादी है।

धर्म-निरपेक्ष या जाति-निरपेक्ष राजनीति की कामना कौन नहीं करता, पर इस निष्कर्ष पर पहुँच जाने का मतलब होगा पार्टियों की जाति आधारित गोलबंदी की क्षमताओं को नज़रअंदाज़ करना, ख़ासकर फ़र्स्ट पास्ट द पोस्ट वाली चुनावी प्रणाली की रोशनी में। राजनीति में जाति के प्रभाव को कम करके आँकना इसलिए भी मुश्किल है कि जाति का रिश्ता सत्ता के साथ-साथ आरक्षण और अन्य हितकारी लाभों से भी जुड़ा हुआ है। इन्हीं आग्रहों के तहत जाति की श्रेणी बदले जाने की भी कवायद चलती रहती है।[39] बहरहाल, आने वाले समय में दलित राजनीति की दिशा दूरदर्शी तभी

---

[36] आनंद तेलतुंबड़े (2014).

[37] जानुस इटली का एक ऐसा देवता है जिसके पास दो चेहरे होते हैं. एक सामने और दूसरा पीछे की तरफ़. इस देवता का संबंध दरवाज़े से माना जाता है, क्योंकि दरवाज़ा सामने और पीछे दोनों ओर खुलता है. अंग्रेज़ी का जनवरी महीना इसी देवता से संबंधित कहा जाता है, जो बीते हुए वर्ष पर विचार करने के साथ ही नये वर्ष की ओर अग्रसर होने का भी द्योतक है.

[38] गोपाल गुरु (2005) :11.

[39] पिछले कुछ वर्षों में गूजरों को अनुसूचित-जनजाति की श्रेणी में शामिल करने के लिए हुआ आंदोलन हो या पाँच राज्यों में जाटों को और महाराष्ट्र में मराठा समुदाय को अन्य पिछड़ी जाति की श्रेणी में शामिल करने का आग्रह हो, आरक्षण की राजनीति में निहित पेचीदगियों को इससे समझा जा सकता है. उत्तर प्रदेश में जहाँ बसपा कई पिछड़ी-जातियों को अनुसूचित-जाति का दर्जा देना चाहती है, वहीं इसके ख़िलाफ़ समाजवादी पार्टी कई अनुसूचित-जातियों को अन्य पिछड़ी जातियों की श्रेणी में ला कर अपना जनाधार बढ़ाने में जुटी है. बिहार में जनता दल (एकीकृत) के नेतृत्व वाली सरकार ने तो अनुसूचित-जातियों के अंदर महादलित नाम से अलग श्रेणी बना कर तथाकथित दलित एकता को ही दो फाँक कर दिया है। अभी हाल में जब जीतन राम मांझी नौ महीने के लिए बिहार के मुख्यमंत्री बने तो उन्होंने पासवान जाति को महादलित-श्रेणी में डाल दिया जो अकेली अनुसूचितजाति थी जिसे इस श्रेणी से बाहर रखा गया था.

साबित होगी जब इनके नेता दलित जनता की पहचान नागरिकता के आधार पर बना कर दलितों को उनके नागरिक हक़ों के आधार पर जोड़ने की कोशिश करेंगे।

संदर्भ :

अभय कुमार दुबे (2001), 'एनॉटॉमी ऑफ़ अ दलित पॉवर प्लेयर : अ स्टडी ऑफ़ कांशीराम', घनश्याम शाह (सम्पा.), *दलित आइडेंटिटी ऐंड पॉलिटिक्स,* सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

--------- (2002), 'बहुजन समाज पार्टी और गुरु किल्ली : दलितों के हाथ में राजसत्ता' अभय कुमार दुबे (सम्पा.). *आधुनिकता के आईने में दलित,* वाणी प्रकाशन और सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

आनंद तेलतुंबड़े (2014), *मैस्ट्रो ऑफ़ आइडेंटिटी पॉलिटिक्स, इकॉनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड XLIX, अंक 40.

ऐ.आर .वेंकटचलपति (2014), 'अरेस्टिंग पोर्ट्रेट', *द हिंदू,* नयी दिल्ली, 14 सितम्बर.

गोपाल गुरु (2005), *एंट्रोफ़ी ऑफ़ दलित पॉलिटिक्स,* विकास अध्ययन केंद्र, मुम्बई.

गोपाल गुरु एवं सुंदर सरुक्काई (2012), *द क्रैक्ड मिरर : एन इण्डियन डिबेट ऑन एक्सपीरियंस ऐंड थियोरी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

धीरूभाई शेठ (2009), 'ब्राह्मणवाद से मनुवाद तक : 'विशुद्ध' दलित विमर्श बनाम सत्ता की दलित राजनीति', *सत्ता और समाज,* (सम्पादन और प्रस्तुति : अभय कुमार दुबे), लोक-चिंतक ग्रंथमाला, वाणी प्रकाशन और सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

तुलसीराम (2014), 'दलित-जातिवादी राजनीति बनाम हिंदुत्व' *जनसत्ता,* नयी दिल्ली, 25 मई.

बजरंग बिहारी तिवारी, 'प्रो. तुलसीराम : दृढ़ता के मायने' *कथादेश,* अंक-1, मार्च 2015.

बद्री नारायण (2013), 'लोकतंत्र का भिक्षुगीत : अति उपेक्षित दलितों के अध्ययन की एक प्रस्तावना', *प्रतिमान,* खण्ड-1, अंक-1, जनवरी-जून, नयी दिल्ली.

बी.आर. आम्बेडकर (2008) *एनिहिलेशन ऑफ़ कास्ट,* गौतम बुक डिपो, नयी दिल्ली.

मीता राजीवलोचन (2014), 'कोपिंग विद एक्सक्लूज़ंज़ द नॉन पोलिटिकल वे', परमजीत एस. जज (सम्पा.), *मैपिंग सोशल एक्सक्लूज़न इन इण्डिया : कास्ट, रिलीजयन ऐंड बॉर्डरलैंड्स,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.